

रस का विश्लेषण: वैदिक औपनिषदिक व शास्त्रीय पक्ष

सारांश

रस शब्द काव्य शास्त्र का बहुचर्चित अंग है रस शब्द का प्रादुर्भाव वेदों से हुआ है। वेदों और उपनिषदों में रस का अनेकषः उल्लेख मिलता है। रसो वै सः के द्वारा रस को आनन्द रूप में बताया गया है रस आस्वादन योग्य है अतः इसका आस्वाद्य होता है परन्तु स्पष्ट रूप से भरतमुनि ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में रस का विवेचन कर जन-मानस को इससे अवगत कराया है।

मुख्य शब्द : रस, वेद, उपनिषद, आस्वाद, आस्वाद्य, साध्य, आनन्द, चिन्मय।
प्रस्तावना

रस तत्त्व भारतीय वाङ्मय का सर्वोच्च अंग रहा है। रसकाव्य का मूल आधार 'प्राणतत्व' अथवा 'आत्मा' है रस का सम्बन्ध 'सृ' धातु से माना गया है जिसका अर्थ है जो बहता है, अर्थात् भाव रूप में बहता है उसे रस कहते हैं एक अन्य उत्पत्ति के अनुसार रस शब्द 'रस्' धातु और 'अय्' प्रत्यय के योग से बना है। जिसका अर्थ है - जो बहे अथवा जो आश्रवादित किया जा सकता है। रस के लिए कहा गया है कि रस के बिना कोई भी अर्थ प्रवर्तित नहीं होता। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से रस की परिभाषा दी है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने रस की परिभाषा बताने वाला सूत्र इस प्रकार बताया है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। 'रस्येति इति रसः' इस उक्ति के अनुसार रस आस्वाद्य धर्म का बोधक हो जाता है। आस्वाद्यत्व के पीछे एक प्रवृत्ति संलग्न होती है, जो किसी वस्तु की ओर मन को प्रेरित करती है, इसलिए 'रस' हमारी इच्छा, प्रवृत्ति या स्वाद से जुड़ा हुआ है और इसकी अनुभूति हमें इच्छा पूर्ति, तृप्ति आदि में होती है। भोजन कर लेने के बाद हम आनन्द का अनुभव करते हैं।

रस का आस्वादन, चर्वण अथवा धीरे-धीरे चखने से होने वाला अनुभव को 'रस' हैं। 'रस' तत्त्व चाहे आस्वाद रूप हो या फिर आस्वाद्य का बोधक हो, वेदों के प्राचीनतम अर्थ से काव्यशास्त्रीय अर्वाचीन अर्थ तक इसका विभिन्न स्तरों पर विवेचन हुआ।

अध्ययन का उद्देश्य

शोध पत्र का उद्देश्य रस का आविर्भाव विषयक विविध मतों को विप्लेषित कर रस का काव्यात्म रूप, अलौकिकता व नित्यता को बताना है।

काव्य में जो आनन्द आता है वह ही उस काव्य का रस है। काव्य में आने वाला आनन्द अर्थात् रस लौकिक न होकर अलौकिक होता है। रस काव्य की आत्मा है साहित्यदर्पण में आचार्य विष्णुनाथ ने कहा है कि "रसात्मक वाक्यम् काव्यम्" अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।

रस अन्तः करण की वह शक्ति है, जिसके कारण इन्द्रियां अपना कार्य करती हैं मन कल्पना करता है, स्वप्न की स्मृति रहती है। रस आनन्द रूप है यही आनन्द अन्य सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। मनुष्य इन्द्रियों पर संयम करता है, तो विषयों से अपने आप हट जाता है। परन्तु उन विषयों के प्रति आसक्ति अनवरत रहती है। सब कुछ नष्ट हो जाए, व्यर्थ हो जाए पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में शेष रहे वही 'रस' है। रस के रूप में जिसकी उत्पत्ति होती है, वह भाव ही है।

'सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावनम्।'

भाव की जब रस के रूप में परिणति हो जाती है तो भाव नष्ट हो जाता है और रस ही रहता है।

'रसो वै सः' अर्थात् वह परमात्मा ही रस रूप आनन्द है। कुमारसम्भव में पानी, तरल और द्रव्य के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुस्मृति में मदिरा के लिए रस शब्द का प्रयोग हुआ है। मात्रा, खुराक और घूंट के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुणों में एक गुण रस है।



माधवी शर्मा

प्राचार्या,
डी. बी. (पी. जी.) महाविद्यालय,
खेरली, अलवर



सुमन बड़सरा

शोधार्थी
संस्कृत विभाग,
डी. बी. (पी. जी.) महाविद्यालय,
खेरली, अलवर

स्वाद, रुचि, इच्छा के अर्थ में भी कालिदास रस शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रेम की अनुभूति के लिए, आनन्द, प्रसन्नता के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्र में किसी काव्य की भावभूमि को रस और रसपूर्ण वाक्य को काव्य कहा है।

भर्तृहरि सार, तत्व और सर्वोत्तम भाग के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग करते हैं। आयुर्वेद में रस के संघटक तत्वों के लिए 'रस' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सप्त धातुओं को भी रस कहा गया है। पारे को रसेम् कहा गया है, पारसमणि को रसरत्न कहा गया है। उत्तररामचरित में इसके लिए रसज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। रस के लिए कहा गया है कि रस के बिना कोई भी कार्य प्रवर्तित नहीं होता।

रस का वैदिक व औपनिषदिक पक्ष

वेद भारतीय वाङ्मय की सर्वप्रथम निधि हैं। 'रस' शब्द का प्रयोग वेदों में वनस्पति के सार के लिए हुआ करता था, जो वनस्पतियों को निचोड़कर निकाला जाता था। 'सोम' एक प्रकार की वनस्पति का निचोड़ ही होता था, और इसका पान इन्द्रियों के पोषण के लिए किया जाता था—

“सोमो अर्षतिधर्णसिर्दधानइन्द्रियरंसम्।

सुवीरो अविषस्तिपाः।”

वेद में 'रस' शब्द पानी अथवा दूध के अर्थ में ग्रहण किया गया है जैसा कहा गया है कि — देवों को मत्त करने हेतु सोमरस में गव्य मिलाओ। अथर्ववेद में पेय के आस्वाद को शत्रुओं से बचाने के लिए प्रार्थना की गई है—

‘यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अष्वानां गवां यस्तनूनाम्।

रिपु स्तेन स्तेष्कृद् दभृमेतु नि ष हीयतां तन्वाऽतना च ॥

उपर्युक्त वेद दृष्टियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदों में 'रस' का मूल अर्थ दूध के 'सार' एवं उस सार के आस्वाद अथवा चर्वणा से लिया गया है। 'आस्वाद' एक प्रकार से सम्यक् परिपाक है, जो किसी अभाव की पूर्ति का सूचक भी कहा जा सकता है।

रस का अर्थ आस्वाद से भी लिया जा सकता है। आस्वाद अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है, अतः वह तन्मयता, आत्मिकतृप्ति, सन्तुष्टि पूर्ति का धोतक बन जाता है। पूर्ति दोनों ओर आनन्दात्मकता की धोतक ही रहेगी। पूर्ति एक ऐसी तृप्ति है, जहां किसी प्रकार की न तो अधिकता है और न ही न्यूनता अपितु जहां वितृष्णा, धैर्य एवं निर्भयता प्रतिबिम्बित होती है। जिस चित्त में इन सब का स्थान है वह चित्त पूर्ण तृप्त एवं आनन्दित होगा। कहा भी गया है कि — वह अपनी सत्ता से सामर्थ्यवान संकल्पों से रहित, धीर, अविनाषी और आनन्द रस को तृप्त है, वह किसी भी प्रकार से, कहीं भी न्यून नहीं है, वह सर्वतः पूर्ण है। उस धीर, अजर, अमर, नित्य तरुण, आत्मा को जानकर विद्वान व्यक्ति पुरुष से नहीं डरता—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोः।

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

उपनिषद में 'सार' शब्द को शरीरस्थ प्राणतत्व से संयुक्त करते हुए शरीर के संतुलन को बनाने उसे सत्त्वरूपता देने वाले प्राणतत्व को ही रस संज्ञा दी गई—

‘प्राणो हि वा अगनां रसः’

रस 'का' देहधातुगत तत्व विशेष अर्थ भी गृहण किया गया और इस आधार पर शरीर को अन्नरसमय कहा गया—

औषधीम्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

क्योंकि भुक्त अन्न का सार देह में परिपाक को प्राप्त कर, उस शक्तिरूपता को प्राप्त कर लेता है, जो शरीर को जीवन दे, उसको सक्रिय बनाए तथा न्यूनताओं की पूर्ति करे। इस प्रकार रस 'उत्पत्ति का कारण' और उत्पन्न को बनाए रखने का आधार है।

रस की आत्मानन्दरूपता की कल्पना भी औपनिषदिक काल की देन है। उपनिषदों की परमात्मवादी विचारधारा के कारण 'रस' का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ा गया है। तथा उसकी प्राप्ति में अर्थात् ब्रह्मज्ञान एवं परम साक्षात्कार में आनन्द की अनुभूति को स्वीकार किया जाने लगा—

‘रसो वै सः रसं हवेवायंलब्ध्वाऽऽन्दी भवति।’

परमात्म प्राप्ति चिरस्थायी — आनन्द अपर पर्याय है, जिसका सीधा अभिप्राय आत्मसाक्षात्कार अथवा 'स्व' की पहचान से लिया जा सकता है, इसलिए उपर्युक्त उपनिषद वाक्य का अर्थ हम स्वात्मविश्रान्ति से लगा सकते हैं और स्वात्मविश्रान्ति 'स्वयंप्रकाशज्ञान' एवं परमानन्द की अवस्था है। सहृदयों के लिए रस आधारभूत तत्व है जीवन दर्पण साहित्य में रस की स्थिति आवश्यकता बन गई। उपनिषद पुराण में भी रस की प्रासंगिकता को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया गया। जिस प्रकार अग्निपुराण में कहा गया है—

‘लक्ष्मीरिव विना त्यागान् वाणी भाति नीरसा।’

जिस प्रकार लक्ष्मी बिना त्याग दान के शोभा नहीं देती उसी प्रकार रस के बिना कविता शोभा नहीं पाती। काव्य रस के इस सूत्र के आधार पर डॉ० नगेन्द्र अग्निपुराण को ही रसवाद का पहला प्रतिपादक ग्रंथ मानते हैं।

शास्त्रीय पक्ष

काव्य का चरम साध्य तत्व 'रस' है। रस को काव्य की आत्मा मानने का भी आचार्यों का स्वयं का प्रयास रहा है। परन्तु रस क्या होता है ? ये सभी आचार्यों की जिज्ञासा का विषय रहा है, फलतः उन्होंने रीति से इसके स्वरूप का कथन लिया है।

भरत से जगन्नाथ पर्यन्त सभी रस

विवेचकों ने निस्वाद रूप से रस की आस्वाद्यरूपता का समर्थन किया है। भरत आस्वाद्यत्व के कारण ही इसे रस रूप स्वीकारते हैं। विभावादि के उचित संयोग से रस आस्वाद्य के रूप में ही अभिव्यक्त होता है। इस आस्वादन व्यापार का फल तृप्ति हर्ष आदि है, अतः इसके लिए भरत समाहित चित्त की प्रमुख अपेक्षा का कथन करते हैं। फलतः भरत के मत में रसरूपता को 'भाव' ही प्राप्त होते हैं। भाव भी वे ही स्वीकार किए जा सकते हैं जिनका सार आस्वाद में है।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रचार में आने के साथ—साथ ध्वनि के माध्यम से रस के ध्वनित रूप की प्रतिष्ठापना हुई, फलस्वरूप रस इस काल में 'आनन्द' का वाचक बन गया। आनन्दवर्धन रस के ध्वनित रूप का अभिप्राय

सहृदय के विभावादि से संवाद होने से लगाते हैं। हृदय के संवादत्व में हृदय की तन्मयता का संकेत मिलता है, फलतः रस स्वात्मविश्रान्ति रूप बन जाता है। इसी आधार पर रस को स्वसंवेध चर्चणा भी कहा जा सकता है। स्वसंवेध होने से रस की आनन्दमयता बनी रहती है। साथ ही आत्मचेतना के प्रकाश का भाव भी झलकता है। प्रकाश में विस्तार व विकास की अनिवार्य अपेक्षा होने से 'रस' फिर उस चेतना का अभिधान धारण करता है, जो सत्व के उद्रेक में सम्भव है इसलिए आगे आने वाले समय में सत्वोद्रेक के कारण स्वात्मचैतन्य रूप लोकोत्तर आनन्द को रस चर्चणा स्वीकार कर लिया गया।

रस की सत्त्वरूपता के पार्श्व में आत्मपरकता के भाव का आविर्भाव हुआ फलतः आचार्यों की धारणा ने दार्शनिकता की प्रतिच्छाया में एक नया मोड़ लिया। इसी आधार पर अभिनव ने भी रस को विषयिगत स्वीकार किया। अभिनव शैवदार्शनिक थे, इस दर्शन से प्रभावित होते हुए उन्होंने अद्वैतवादी दृष्टिकोण से रस की व्याख्या की तथा रस का अर्थ आनन्द अथवा स्वात्मविश्रान्ति से लिया। शैवदर्शन के अनुसार आनन्द शिव की शक्ति है, जो साधारणतः चित्त की विश्रान्ति रूप है। यह सम्पूर्ण जगत् उस आनन्दमय शिव का अंश है, फलतः जीवात्मा भी उसी का अंश है। शैव दार्शनिक आत्मा को चेतन व आनन्दात्मक मानते हैं। फलतः आनन्दानुभूति आत्मानुभूति से भिन्न नहीं इसलिए इसे चिन्मय, प्रकाशमय, आनन्दमय आदि नामों से जाना जाता है। आनन्द की आत्मरूपता के आधार पर ही अभिनव ने रस को सहृदय संवेदनात्मक निर्विघ्नविश्रान्ति रूप माना है। अभिनव के अनुसार रस को आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही आस्वाद माना जाता है।

रस को अपनी विवेचना का विषय बनाते हुए परवर्ती कुछ आचार्यों ने वेदान्तवादी विचारधारा में रसस्वरूप का निर्धारण किया। वेदान्तमत में आनन्द को आत्मा का स्वरूप ही माना जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में 'आनन्द ही ब्रह्म है' ऐसा माना गया है। इसके बाद भी वेदान्ती विचारधारा अद्वैतवादी है। अग्निपुराण, आचार्य विष्णुनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ की रस विवेचना का केन्द्र यही अद्वैतवादी विचारधारा है।

वेदान्त ब्रह्म सच्चिदानन्दमय है। सत् ब्रह्म की नित्यता का वाचक है, चित्त उसकी ज्ञानात्मिका शक्ति है और आनन्द उसका अपना स्वरूप है। ब्रह्म अपने रस स्वरूप का आस्वादन इस चित्त शक्ति से करता है। अग्निपुराण में कहा गया है 'रस आनन्द का पर्याय है और आनन्द आत्मा का स्वरूप है' उस स्वरूप की अभिव्यक्ति चित्तमत्कृति के रूप में होती है। ज्ञान की इस अवस्था में अविद्या का व्यवधान नहीं रहता। काव्य में होने वाली आनन्दानुभूति राग-द्वेष आदि को बनाने वाली अविद्या से रहित होती है।

आचार्य विष्णुनाथ इसी विचारधारा के आधार पर रस को सच्चिदानन्द, अखण्ड, विगलितवेद्यान्तर आनन्द आदि अभिधान देते हैं। वे 'रस' की विषिष्टताओं में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अवधारणाओं का समाहरण कर देते हैं। वे रस को सत्वोद्रेक, अखण्ड, स्वयंप्रकाश इत्यादि होने से आनन्दमय, चिन्मय, अज्ञानधून्य, ब्रह्मस्वादसहोदर

स्वीकारते हैं। अनुभूति के आधार पर रस अलौकिक चमत्कार प्राण है।

पण्डितराज जगन्नाथ पूर्ण दार्शनिक धरातल पर रस की चर्चणा को अन्तःकरण की आनन्दाकारवृत्ति कहते हैं। जिसमें चैतन्य के उपर से अनावरण हट जाता है। रसानन्द उनके मत में ब्रह्मानन्द की समकक्षता के कारण चैतन्य, नित्य, स्वयंप्रकाश और आनन्दघन है। अन्तर केवल बाह्य वातावरण का है क्योंकि रसानन्द विभावादि के माध्यम से आत्मचैतन्य का अनुभव है। ब्रह्मानन्द भावों से पूर्णतः वियुक्त होता है, पर रसानन्द में अज्ञानावरण के हट जाने से वासनस्थ भाव ही प्रकाशित होते हैं।

रस सत्वोद्रेक रूप है, इसी को विश्रान्ति, लय, समापत्ति संज्ञाओं के नाम से भी जाना जाता है। सत्व मन की उस अवस्था का धोतक है जहां रज तम की चंचलता व मोहान्धता का परिहार हो जाता है। तम की निष्क्रियता और रज की सक्रियता नहीं रह पाती अपितु पूर्ण स्वस्थ मन में स्वत्व का विस्तार होता है। अभिनव 'सत्व' को चित्त की एकाग्रता कहते हैं। एकाग्रता, जिसमें न तो अपेक्षा रहती है और न ही निरपेक्षता। इस प्रकार की एकाग्रता अथवा तन्मयता की अनुभूति ही रस है।

संभवतः रस को इसी आधार पर 'चिन्मय' कहा गया है क्योंकि 'चिन्मयता' स्वयं स्वसंविद् की विश्रान्ति ही तो है। क्योंकि संविद् का आस्वाद लिया जाता है, इसी से रस को 'स्वयंप्रकाश' भी कहा जाता है। इसे सत्व का अपररूप भी माना जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार के अनुभव में भी सामाजिक के साक्षात् आत्मसाक्षात्कार की अपेक्षा रहती है। आत्मा सत्, चित् आनन्द रूप है, फलतः रस भी तद्रूप चिन्मय व स्वयंप्रकाश रूप है। स्वयंप्रकाश ज्ञान बाह्य-वैध विषयों से सर्वथा भिन्न वासनास्थ संस्कारों का ही परिष्कृत ज्ञान होता है। बाह्यविभावादि का तनिक संसर्ग भी यहां नहीं हुआ करता, एक प्रकार से भौतिकता से अनासक्ति हो जाया करती है। जार्ज सन्तामना ने भी सौन्दर्यानन्द में अनासक्ति को माना है। इस प्रकार रस आत्मलीनता, आत्मास्वाद की स्थिति है। इसी आधार पर मम्मट सत्वोद्रेक की अवस्था में आत्मविश्रान्ति को रस कहते हैं। और पण्डितराज भग्नावरण आत्मा के स्वरूपानन्द को रस मानते हैं।

रस एक अखण्डात्मक अनुभूति है। इसकी अखण्डता को दो आधारों पर कहा जा सकता है।

1. विभावादि का संवलितरूप
2. कविसंविद् का रसिकास्वाद

'रस' विभावादि का संवलित रूप है। विभावादि के पृथक्त्व का नहीं, जैसा कि भरत के रसनिष्पत्ति सूत्र से विदित भी होता है। इनके संवलित रूप के अनुभव का आस्वाद गुड़ादि से निर्मित पावक रस के समान एक विलक्षण प्रकार का होता है। फिर रस की प्रमुख अपेक्षा सत्वोद्रेक है, जहां आत्मा का पूर्ण तन्मयीभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में फिर पृथक्-पृथक् प्रत्यक्षीकरण की सम्भावना नहीं बन पाती, अपितु सहृदय के विकीर्ण आवेग संश्लिष्ट हो एक हो जाते हैं, कहा जा सकता है कि काव्यास्वादन के बोध का रहस्य क्षणिक अन्वित्तियों में हुआ करता है। रस को 'आनन्दघन' प्रतीति कहने से भी रस के अखण्ड, निर्विघ्न होने का संकेत मिलता है।

काव्य में जो विभावादि का पृथक्-पृथक् विवेचन होता है, वह तो शास्त्रीय है, उनकी जो प्रतीति है वह अखण्ड है। वहां फिर पहले विभावादि की, फिर स्थायी में संयोजन की, तदनन्तर 'रस' इस प्रकार की प्रतीति के स्तर नहीं बनते। काव्य पठन या श्रवण अथवा दर्शन के अनन्तर सद्य ही एक उत्कृष्ट आनन्द प्रतीति होती है। पण्डितराज का भी विभावादि को कल्पनोद्भूत मानना इसी भाव को व्यक्त करता है। ऐसे विभावादि अनावरण से रहित आत्मचैतन्य को अनुभव का विषय बना देते हैं। वह अनुभव ही रस है।

रस की अखण्डता को प्रतिपादित करने वाला दूसरा मत यह है कि काव्य में कविगत साधारणीभूत संवित् होती है और रसिकास्वादक में अनासक्त आत्मीयता। काव्य व्यापार में कवि का अनुभव नट द्वारा रसिक हृदय में अखण्ड रूप से संक्रान्त होता है।

अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में रस की सत्ता स्वीकारि जाती है फलतः लौकिक विभावादि का काव्य में व्यंग्यरूप अर्थात् कल्पनात्मकरूप ही रसास्वाद का माध्यम बनता है और कवि का स्वानुभव इसी के द्वारा सहृदयास्वाद का विषय बनता है। आनन्दवर्धन इसे 'झठति प्रत्यय' भी कहते हैं, जिससे स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि रस अखण्ड है।

साधारणतः रस का उपर्युक्त स्वरूप निर्धारण कर लेने पर दार्शनिक विचारधारा के प्रभाव में आने से रस की स्वाभाविक विशेषताओं में कुछ सादृश्य व सामीप्य को पाते हुए, रस को ब्रह्मस्वादसहोदर कहने का भी आचार्यों ने प्रयास किये। ब्रह्मवाद तो पूर्ण सच्चिदानन्द रूप है। परन्तु काव्यरस पूर्ण ब्रह्मस्वाद नहीं अपितु उसका सहोदर है। संवित् का आस्वाद होने से वह विषुद्ध आत्मास्वाद नहीं, इसमें भावस्वरूप के अनुसार चित्तवृत्तियों का स्वरूप विद्यमान रहता है। इतना अवश्य है कि दोनों 'आनन्द' रस हैं। जैसा 'रसो वै सः रसयं हयेवायंलब्ध्वाऽऽन्दी भवति' आदि से स्पष्ट भी है।

योगी ब्रह्मानन्द और सहृदय काव्यानन्द की अनुभूति करता है। रसिक का आनन्द तन्मयीभवन अथवा चर्चना में निहीत है, तो योगी को समाधि से आनन्द की प्राप्ति होती है। ब्रह्मानन्द में योगी चित्तवृत्तियों का पूर्णतः निरोध करता है, जबकि रसानन्द में विषोधन ही पर्याप्त होता है, वे केवल साधारणीकृत होकर भोग का विषय बन जाती हैं। प्रथम में विषयों में विमुखता होती है, तो दूसरे में विषय रूप में स्थायीत्व विद्यमान रहता है। फलतः इसे 'ब्रह्मास्वादसविद्य' ही माना जाना चाहिए। प्लाटिनस ने सौन्दर्यास्वादन के पक्ष में अपना मत देते हुए कहा है, कि सौन्दर्यास्वाद की चरमावस्था 'पूर्ण' में संलग्न होने के कारण आनन्द के समान होती है, पूर्ण में संलग्न होने को आनन्द नहीं।

निष्कर्ष

रस की मूल चेतना आनन्दात्मक है। परन्तु कुछ आचार्य सुख दुःखादि चित्तवृत्तियों के आधार पर रस को

सुखात्मक दुःखात्मक मान लेते हैं। परन्तु रस संविद का आस्वाद है, चित्तवृत्तियों का नहीं। रस का आस्वाद होने से वह सर्वथा आनन्द रूप है। इसमें सुख दुःखादि का कोई विघ्न नहीं रहता, क्योंकि यह लौकिक प्रतीति है लौकिक सुख दुःख से भिन्न होता है। वस्तुतः यह पूर्ण आनन्दात्मक है। अभिनव गुप्त आनन्द को आत्म चैतन्य में स्थित मानते हैं। आत्मचैतन्य में स्थित होने से रस अन्तः सत्ता की तदाकार परिणति भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें निर्व्ययविक्रता की अपेक्षा रहती है। निर्व्ययविक्रता में स्वत्वनिष्ठा और स्वयंसाध्यत्व रहता है कहा जा सकता है कि काव्यास्वाद के फलस्वरूप सहृदय आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द चेतना में पूर्णतः निमग्न रहता है। आत्मानुभूति रस की विशेषता है, क्योंकि सौन्दर्याबोध में होने वाली आनन्द की अनुभूति में तद्भीष्ट वस्तु का वैशिष्ट्य ग्रहण किया जाता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्य दर्पण : प्रथम परिच्छेद
2. अथर्ववेद 3,31,10
3. ऋग्वेद 6,8,14
4. अथर्ववेद 8,4,10
5. अथर्ववेद 10,4,44
6. बृहदारण्यकोपनिषद् 1,3,19
7. तैत्तिरीयोपनिषद् 2,1
8. नाट्यशास्त्र 6/32 के बाद अभि०भा०पृ० 63
9. ध्वन्यालोक 1/80-81
10. काव्यप्रकाश 4 का 27-28
11. तन्त्रसार आ पृ० 12
12. प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र 3
13. अभिनवभारती 6/15 वृत्ति
14. वेदान्तसार पृ० 1
15. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/6
16. अग्निपुराण 4/25
17. साहित्यदर्पण 3/105
18. रसगंगाधर प्रथमानन पृ० 60
19. अभिनव भारती(बडौदा संस्करण)
20. The sense of beauty – page 39
21. काव्यप्रकाश 1/2 वृत्ति 4/17-18
22. रसगंगाधर :प्रथमानन पृ० 88
23. The sense of beauty page 234
24. काव्यप्रकाश 1/2 वृत्ति
25. रसगंगाधर प्रथमानन पृ० 88
26. रसगंगाधर प्रथमानन पृ० 100
27. काव्यसिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र पृ० 46
28. नाट्यदर्पण: 3 परिच्छेद
29. अभिनवभारती 6/पृ० 473
30. अभिनवभारती 6/पृ० 478
31. Art experience page 27
32. The sense of beauty page 49